

25. सर्जनात्मक लेखन में भाषा का बदलता हुआ रूप

—मलयज

भाषा पर विचार करते समय उसका जो एक सर्वस्वीकृत-सा रूप हमारे सामने आता है वह यह कि भाषा अभिव्यक्ति का—मानव अनुभूतियों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ले जाने का—माध्यम है। भाषा के संदर्भ में कृतिकारों को जब-जब सर्जनात्मक संकट का बोध हुआ है तब-तब वह इस रूप में ही व्यक्त हुआ कि कृतिकार जो अभिव्यक्त करना चाह रहा है वह नहीं हो पाता या वह कुछ हो पा रहा है जो वह नहीं चाहता। और संकट के ऐसे प्रत्येक अनुभव-क्षण में कृतिकार अपनी आसतीनें चढ़ा कर मुक्का तान कर भाषा पर पिल पड़ा है, उसमें जरूरी यह गैर-जरूरी तोड़-फोड़ की है और उससे बलात् वह कुछ 'कहलवा' लेना चाहता है जो उसकी मंशा है। भाषा उसके लिए हमेशा से एक ऐसी रत्नगर्भा धरती रही है जिसमें जितनी दूर तक प्रतिमा की फाँक खुवोई जायगी वह उतना ही प्रभूत मात्रा में रत्न देगी। यहाँ ध्यान देने की बात सिर्फ इतनी है कि अब तक भाषा का अस्तित्व प्रायः कृतिकार-व्यक्तित्व से पृथक नहीं माना जाता था, वल्कि सामान्य रूप से आग्रह तो इस बात पर भी रहा है कि एक समर्थ रचनाकार के पास उसकी एक विशिष्ट भाषा भी होनी ही चाहिए जिस पर उसके स्वामित्व की स्पष्ट छाप हो। ऐसा कभी नहीं हुआ, जैसा कि आज हो गया लगता है, कि भाषा अपने रचना-प्रयोग का एक विकास-क्रम पूरा कर चुकने के बाद कृतिकार-व्यक्तित्व के एक निर्वैयक्तिक बोध-स्तर पर कृतिकार से छिटक कर दूर जा खड़ी हो और उससे बड़ी हो जाय—भाषा के संदर्भ में इस कोटि का सर्जनात्मक संकट बोध कि भाषा सृजन-कर्म का साधन न रह सके वरन् सृजन-कर्म की सहकत्री बन जाय—कभी-कभी सृजन का पर्याय ही बन जाय।

खड़ी बोली हिन्दी को सृजन की भाषा का दर्जा मिलने के समय से अब तक भाषा इन्हीं दो मूल स्थितियों के बीच यात्रा करती रही है। पहली स्थिति में भाषा सृजन की भाषा है, दूसरी में 'सर्जनात्मक भाषा'। आगे विस्तार में जाने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि दोनों के बीच का यह सूक्ष्म अन्तर बाल की खाल निकालने वाले दृष्टिकोण की पुष्टि न कर वस्तुतः भाषा के संवेदनशील प्रयोगकर्ता के रूप में एक रचनाकार की समग्र मूल्य दृष्टि को ही ध्वनित करता है। अतः सर्जनात्मक लेखन का भाषात्मक कोई भी विवेचन भाषा चेतना की पृष्ठभूमि में कार्यरत सौन्दर्यात्मक मूल्यों तथा उनके भी पीछे की सामाजिक-नैतिक पृष्ठभूमि में उचित परिप्रेक्ष्य में देखने का एक प्रयत्न है। आज विभिन्न युगों के सर्जनात्मक संकल्पों एवं आधार भूमियों की खोज 'जीवन-दर्शन' की खोज द्वारा नहीं पूरी जा सकती; न सिर्फ वह पूरी नहीं की जा सकती वरन् अक्सर भ्रामक भी सिद्ध हो सकती है। क्योंकि 'जीवन-दर्शन' जैसा शब्द रचनात्मक उपलब्धि की जिस सुचिन्तित प्रणालीबद्ध कोटि को अपने भीतर समाहित करके चलता है उसकी लीक का अनुसरण करने से सर्जनात्मक प्रक्रिया के उन छोटे-छोटे अनेक चक्रों को नजर-अन्दाज कर दिया जा सकता है जो सर्जनात्मकता के विकास चरणों के रूप में अपनी अद्वितीयता एवं विशिष्टता के कारण ही महत्वपूर्ण होते हैं। विभिन्न युगों के भावबोध की आन्तरिक सच्चाई और सर्जनात्मक चेतना के स्तर पर जो नया बिन्दु जुड़ा हो उसे पकड़ने में जीवन-दर्शन अपर्याप्त सिद्ध होता है। आज यदि इस बात का उत्तर देने की बाध्यता आन पड़े कि हम अपनी पूर्व पीढ़ी से किस बिन्दु पर भिन्न हैं तो इसके लिए अन्य किसी स्थूल रास्ते पर न जाकर सर्जनात्मक लेखन की भाषा की सूक्ष्म तर्कों को ही उलटना-पलटना श्रेयस्कर होगा, जिसके भीतर कितनी ही अमूर्त रचना-शक्तियाँ समसामयिक जीवन-बोध से प्रेरित किसी अग्रिम मूल्य-बोध की प्रतीति से टकरा-टकरा कर कोई निश्चित आकार लेने को आकुल हैं। दो पीढ़ियों का यह अन्तर दिखाने के लिए यह आवश्यक नहीं समझा जाना चाहिए कि दो निश्चित परिपाटियों की तरफ ही इशारा किया जाय—नयी पीढ़ी भिन्न जीवन-बोध के बावजूद अभी कोई भिन्न मूल्य-बोध नहीं रच पायी है। भिन्न जीवन-बोध की अनिवार्यता से क्रमशः स्फुरित भिन्न मूल्योन्मेष की सत्ता यहाँ एकमात्र भाषा-पक्ष के अध्ययन से ही प्रमाणित की जा सकती है।

भाषा का रूप उसके 'आचरण' से निर्धारित होता है यह आचरण भी बहुत कुछ उन ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा परिचालित होता है। ये शक्तियाँ या तो सामाजिक-चेतना के स्तर पर या व्यक्ति-चेतना के स्तर पर क्रियाशील होती हैं। भाषा के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक शक्तियों की सक्रियता के ये दो ध्रुव हैं। अक्सर ये दो ध्रुव परस्पर मिल जाते हैं और भाषा का वह 'आचरण' जो अन्यतम ध्रुव-स्थितियों में बिल्कुल 'निश्चित'—सा रहता है, उनके मिल जाने से 'अव्यवस्था' अथवा अराजकता का परिचय देने लगता है। उदाहरण-रूप में कहा जा सकता है कि द्विवेदीयुगीन भाषा सामाजिक आचरण की भाषा थी और छायावाद युग की व्यक्तिवादी आचरण की। भाषा के आचरण की तीसरी स्थिति के लिए प्रयोगवादकालीन भाषा का नाम आसानी से लिया जा सकता है। यहाँ 'भाषा के आचरण' को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वास्तव में भाषा के 'आचरण' की परिकल्पना उस सम्बन्ध की ओर इंगित करती है जो भाषा के प्रयोगकर्ता के रचनाकार-व्यक्तित्व तथा उसके परिवेश के बीच स्थित है। भाषा की इकाई के रूप में शब्द में निहित अर्थ इस सम्बन्ध का ही प्रतिफलन है, या यों कहे कि इस सम्बन्ध का बोध ही वह अर्थ है जिसका शब्द हमें ज्ञान कराता है। यह सम्बन्ध भाषा की धारक-शक्ति के रूप में कितना महत्वपूर्ण तत्त्व है यह इस बात से ही प्रमाणित हो जाता है कि जब

भी कभी, किम्बो बाह्य या आन्तरिक कारण से, वह सम्बन्ध बदला है शब्द का अर्थ ही बदल गया है। जिन भी परिस्थितियों में रचनाकार और उसके परिवेश में एक प्रकार का सम्बन्ध निर्मित हो गया है भाषा उसके अनुरूप ही आचरण करेगी। इस संदर्भ में यह सहज ही देखा जा सकता है कि भाषा के आचरण की अग्रिम परिकल्पना और तत्सम्बन्धी आवश्यक रचनात्मक संपृक्ति ही भाषा के एक निश्चित प्रकार के आचरण में परिवर्तन ला सकती है। भाषा विज्ञान की शब्दावली में संभवतः इसे ही भाषा का विकास कहा गया है जिसका अर्थ यहाँ इतना ही समझ लिया जा सकता है कि भाषा एक प्रकार की सम्बन्ध पूर्णता से दूसरी सम्बन्ध पूर्णता की ओर बढ़ती है। अवश्य ही यह पूर्णता (saturation) ऐतिहासिक शक्ति-चक्र की धीमी या तेज़ गति द्वारा अपनी आयु प्राप्त करती है। भाषा के संदर्भ में संकट तब उपस्थित होता है जब उस ऐतिहासिक चक्र की गति का साथ देने में वे सम्बन्ध पीछे रह जाते हैं। तब भाषा अभिव्यक्ति का जीवित उपादान न रह कर एक अलंकृत मुद्रा का रूप अखित्यार कर लेती है।

द्विवेदी युग में इस संबंध का नियमन बहुत मुखर रूप में वे ऐतिहासिक शक्तियाँ कर रही थीं, जिन्होंने देश की राष्ट्रीय चेतना को आग्रत किया था और जो साहित्य के क्षेत्र में एक 'सामाजिक अह' के रूप में सामने आईं। इस सामाजिक अह से प्रेरित उस युग के रचनाकार समाज को उसकी वस्तुवादी रेखाओं के बीच पहचानने की कोशिश कर रहे थे। उनमें ऐतिहासिक शक्तियों के अन्तर्बंधन से उद्भूत उस नितान्त वैयक्तिकता का आग्रह नहीं था कि वे अपने परिवेश को (जो उस वक्त 'समाज' की परिकल्पना तक ही सीमित था) अन्तर्मुख आँखों से उसका कल्पनात्मक रूपान्तरण करके देखते। इसलिए उनकी खोज राष्ट्रीय चेतना की लहर से संयुक्त सामाजिक चेतना के ज्वार से उत्सर्जित वस्तुस्थितियों की सही पहचान करने और उन्हें सही शब्दों में व्यक्त कर डालने तक ही रही। इस दृष्टि से पद्य और गद्य की भाषा में कोई तात्त्विक भेद करना कठिन है, चाहे उस युग के निर्माता महावीर प्रसाद द्विवेदी को भले ही यह शिकायत रही हो कि 'हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है।' दोनों ही क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से शब्द पर ही बल दिया जाता था, चाहे वह मैथिलीशरण गुप्त की प्रवाहयुक्त सादी भाषा हो या आयोध्यासिंह उपाध्याय की संस्कृत शब्द प्रधान क्लिष्ट भाषा। उस समय के कृतिकार का एकमात्र प्रयत्न (भाषा के सम्बन्ध में प्रयोग) यह रहा है कि उसकी भाषा किस प्रकार अधिकाधिक दुरुस्त, सटीक और उपयोगी हो जिससे वह सामाजिक परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण कर सके। द्विवेदी युग में भाषा का एक प्रतिमान रूप स्थिर करने के पीछे यहाँ व्यावहारिक चेष्टा काम करती दिखाई देती है। इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ भाषा की मूल संघटना का स्वरूप देखा जा सकता है। यहाँ भाषा रचनाकार और उसके परिवेश के सम्बन्ध की साक्षी मात्र है, एक ऐसा निष्क्रिय यंत्र जो उतना ही काम करता है जितना उससे करवाया जाता है - बल्कि यहाँ तो इस बात की भी सजग चेष्टा है कि वह उतना ही काम करे जितना उससे करवाया जाय, न घट कर न बढ़ कर। रचनात्मक स्तर पर भाषा का यह रूप पराश्रित रूप है - रचनाकार पर आश्रित, और उससे भी अधिक रचनाकार और उसके परिवेश के एक खास कोटि के सम्बन्ध पर आश्रित। अतः रचनाकार और भाषा का सम्बन्ध भी आश्रयदाता और आश्रित का सम्बन्ध है, दो स्वतन्त्र गतिशील (डाइनेमिक) इकाइयों का सम्बन्ध नहीं।

भाषा का एक वर्णनात्मक ढाँचा होता है, कथ्य के आदि, मध्य, अन्त को सिल सिलेवार रखने का क्रम। गद्य में यह ढाँचा कमोवेश अनिवार्य यह होता है - उस वर्णनात्मक ढाँचे का रहना गद्य में होने की ही शर्त है। कविता भाषा के इस वर्णनात्मक ढाँचे को स्वीकार नहीं करती। और इस सामान्य अर्थ में द्विवेदी युग की काव्य भाषा और गद्य भाषा जरूर अलग-अलग हसि हैं। पर इसके अलावा भी भाषा का एक वर्णनात्मक रूप गठन होता है जिसमें शब्द अर्थों की, और अपने अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील प्रयोगों में (जो कि आगे चलकर संभव हो सका) अर्थ-अनुगुंजों की लड़ी लिए हुए आते हैं; इस शब्द-लड़ी का अर्थ अपने आप में पूर्ण होता है, वे अपनी जगह पर पूरा अर्थ देते हुए 'स्थिर' होते हैं; उनके क्रम में अदला-बदली तो की जा सकती है - और इस तरह अर्थ-वैभव का विस्तार किया जा सकता है - पर उनकी क्रमता के बीच कोई ऐसा अन्तराल, ऐसा निर्वात नहीं पैदा किया जा सकता जिसमें सर्वथा नया अर्थ अन्वेषित कर सकने की गुंजाइश हो। उन्हें अधिक से अधिक लोचदार बनाया जा सकता है, जिससे भावानुभूतियों के तापमान के अनुसार वे कभी परुष, कभी कोमल, कभी सूक्ष्म, कभी ठोस रूप ग्रहण कर सकें। पर जिसे मैं 'सर्जनात्मक भाषा' कहता हूँ, वह भाषा में रचनाकार की अनुभूतियों के दीपक से दीपक जलाने की क्रिया से नहीं पैदा होती, चाहे रचनाकार की वे भावानुभूतियाँ कितने ही वेग और तीव्रता से भाषा की सीमा से टकराएँ। 'सर्जनात्मक भाषा' भाषा-प्रयोग की एक ऐसी शर्त है जिसमें रचनाकार भाषा की इकाइयों के रूप में शब्द के अस्तित्व के प्रति अत्यधिक सचेत होता है - उसका सचेत होना इस बात की गवाही मात्र है कि वह भाषा के अद्य तक के प्रयोगों की सीमाओं से परिचित है और यही नहीं वरन् उन सीमाओं को संवेदना के स्तर पर झेल भी चुका है। इसे चाहें तो भाषा की अस्तित्ववादी परिकल्पना कहा जा सकता है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार अपने कृतिकार व्यक्तित्व के प्रति भी अत्यधिक सचेत हो। ऐसी स्थिति में रचनाकार भाषा के साथ अपने सम्बन्ध में उससे अपनी भावानुभूतियों का मात्र अभिव्यक्त करने की सहूलियत नहीं चाहेगा, वरन् वह भाषा की अनुभूति का एक निर्वैयक्तिक आग्राम मान कर उसके द्वारा नये अर्थ की ओर एक सम्मिलित यात्रा करेगा। इस प्रकार के भाषा-प्रयोग में शब्द कृतिकार के मोहताज न होकर एक ऐसे संवेदनशील जीवित खंड होंगे जिनके प्रति तनिक भी लापरवाही रचना के उन सौंदर्यात्मक मूल्यों के उन्मेष को ही ध्वस्त कर सकती है जिसे रचनाकार अपनी कृति के माध्यम से साक्षात्कृत करना चाहता है। सर्जनात्मक भाषा रचनाकार की अपने परिवेश

की पहचान को कोई निश्चित आकार, संज्ञा या रूप देकर नहीं व्यक्त करती, वरन् वह वस्तुओं को उनके मूल आकारों संज्ञाओं, रूपों के साथ इस तरह से प्रतिनिधित्व देती है कि उनका जुटा हुआ समवाय किसी तीसरी अर्थ-सत्ता के अस्तित्व को प्रेषित करता है। यह अर्थ का तीसरा आयाम अर्थ के उन दो आयामों से भिन्न होता है जिसके अन्तर्गत एक में अर्थ महज 'समझा' जाता है और दूसरे में महज 'महसूस' किया जाता है। वह उस प्रतिक्रिया ('आचरण') पर निर्भर करता है जो वस्तु-और उसे सामने लाने वाले शब्द-रूप-तथा वस्तु के बीच घटित होता है। इस प्रतिक्रिया के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि दो वस्तुएँ-दो शब्द-रूप-एक साथ जुटा दिए जायँ; वरन् उनको एक साथ जुटाने में एक विशेष संगति, एक विशेष क्रम या तरतीब का होना भी अपेक्षित है। रचनाकार की क्षमता इस बात में है कि वह उन वस्तुओं को एक साथ विभिन्न तौर तरीकों में इस तरह रखे कि वे परस्पर तथा प्रतिक्रिया करें जब कोई तीसरी अर्थ-सत्ता मौजूद हो।

यदि रचनाकार के भीतर ही सब कुछ घटित होता है और बाहर का लोक रचना-क्षण के पहले तक रचनाकार से असम्पृक्त एक न्यूट्रल 'कच्चा माल' भर ही है तो वह 'गति' नहीं होगी जो दो स्वतंत्र वस्तु-सत्ताओं के 'होने' की सूचक है। यह 'गति' काल का ही एक उद्भावन है, यद्यपि सर्वत्र उस पर आधारित नहीं है। यह काल (युगबोध) वह तीसरी सत्ता है जिसकी पृष्ठभूमि में जब दो वस्तुएँ विरुद्ध दिशाओं में चलती हुई दिखाई देती हैं तब 'गति' (आधुनिकता) का बोध होता है। अभी तक प्रायः यह होता रहा है-कि रचना-क्षण के पहले तक या तो एक वस्तु चलती दिखाई देती थी (द्विवेदी युग : सामाजिक अहं) और दूसरी स्थिर भावोद्दीपन की प्रतीक्षा में ('रचना' का विषय बनकर) पड़ी रहती थी; या दूसरी वस्तु चलती दिखाई देती थी (छायावाद : अन्तर्मुख अहं-व्यक्तिमन में पड़ती हुई बाहर की छाया) और पहली उससे परे असम्पृक्त रहती थी। इन दोनों ही स्थितियों में रचनाकार एकमंचीय पात्र के समान अपनी भावानुभूतियों के लिए जिस भाषा को चुनना है-इन स्थितियों में जो भाषा निर्मित होती है-वह चाहे वस्तुवादी हो (द्विवेदी युगीन) या भाववादी (छायावादी युगीन), उसमें 'तनाव' नहीं होता जिसका कि होना इस बात का अत्यंत प्रभावशाली संकेत होता है कि रचना का आशय खिंचे हुए बाण की तरह किसी तीसरी अर्थ-संभावना की दिशा में छूटने-छूटने को है।

भाषा को इस हद तक स्वशक्ति-चालित एवं निर्वैयक्तिक बना देना कि वह रचनाकार को दाय के रूप में मिले परिचित अर्थ-रूपों के द्वारा ही वस्तु-सत्य का नया कोण उद्घाटित कर दे, वस्तुतः रचनाकार की रचना-तंत्र के क्षेत्र में अपनी तैयारी ही है। यह तैयारी होने से रचनाकार कम से कम अपने भाषा-प्रयोग द्वारा अपनी अनुभूतियों की सौन्दर्यात्मक 'अनुकृति' को ही 'सर्जन' मानने की भूल नहीं करेगा। परन्तु इस तैयारी में सबसे बड़ी बाधा हमारी साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं, जिन्होंने हिन्दी के रचना-मानस को बहुत समय तक न सिर्फ अनुप्राणित किया वरन् उसे एक विशेष तापमान पर निर्भर भी रखा। बाधा इस रूप में कि रचनाकार का इन साहित्यिक परम्पराओं के अतिरिक्त किसी इतर ज्ञान-बोधात्मक परम्परा से इस हद तक लगाव नहीं हो सका कि वह रचना-चिन्तन के स्तर पर-और यह केवल स्वचेतनता की स्थिति में ही संभव है-कोई बड़ा जोखिम मोल ले। ये साहित्यिक परम्पराएँ भावबोध के गहन स्तर पर हिन्दुस्तान के समग्र सांस्कृतिक उत्तराधिकार से जुड़ी हुई हैं। इसीलिए संभवतः उनकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि उनसे पूरी तरह आज भी मुक्त नहीं हुआ जा सका है। हमारी सांस्कृतिक चिन्ता-धारा के प्रतिफलन के रूप में ये साहित्यिक परम्पराएँ मूलतः अद्वन्द्वमूलक रही हैं। पश्चिम की द्वन्द्वमूलक ज्ञान-बोधात्मक परम्पराओं ने जब भी इस देश की रचनात्मक प्रतिभा का संस्पर्श किया-और परिणामस्वरूप जब-जब उसकी अपनी धुरी खिसकती-सी लगी-उसमें एक प्रकार के भाव तारल्य ने ही जन्म लिया। इस भाव तारल्य ने कभी-कभी पश्चिम-प्रेरित उन द्वन्द्वमूलक परम्पराओं को ऐंद्रजालिक रहस्य से आवृत देखा, तो कभी उन्हें अराष्ट्रीय मान कर उनके प्रभावों का अतीतोन्मुख समाहार ढूँढ़ लिया। भाव तारल्य के उसी धरातल से उनके प्रभावों का अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक समाहार राष्ट्रीय जीवन में 'आध्यात्मिकता' के रूप में किया गया तो सर्जनात्मक लेखन में-काव्य में 'बिम्ब' और कथा में 'वातावरण' के रूप में। इस समाहार का प्राचीन रूप साहित्य-बोध के लिए 'रस' तत्त्व की अनिवार्यता में व्यक्त हुआ था जिसमें आस्था रखने वाले सम्प्रदाय साहित्य-जगत् में आज भी दुर्लभ नहीं हैं।

यहाँ इतना संकेत कर देना समीचीन होगा कि अद्वन्द्वमूलक सांस्कृतिक चेतना से निःसृत उन साहित्यिक परम्पराओं ने भाषा के 'वर्णनात्मक' प्रयोग को ही पुष्ट किया है। क्योंकि अद्वन्द्व की स्थिति में कृतिकार के भावयंत्र में वह विशिष्ट 'तनाव' नहीं होता जो पहले तो दो स्वतंत्र वस्तु-सत्ताओं को स्वीकार करे, फिर उन्हें अपने रचना-व्यक्तित्व के धरातल पर आमने-सामने ऐसे प्रतिष्ठित करे कि वे 'मौका' पाते ही रचना-प्रेषण के क्षण में एकाकार हो जायँ और एक नये अर्थ की सृष्टि कर दें (अभिव्यक्ति नहीं)। और सम्भवतः इसीलिए अद्वन्द्व की स्थिति में भाषा की मूल संघटना में कोई मौलिक परिवर्तन कर सकने की संभावना नहीं होती। इसके विपरीत द्वन्द्व की स्थिति में तनाव होता है और तनाव में वस्तु-रूपों के पूर्वपरिचित सम्बन्ध बिखर जाते हैं। यह बिखराव शायद उस परिचित वस्तु-रूप में एक नया सर्जनात्मक अर्थ-सम्बन्ध-क्रम स्थापित करने के लिए आवश्यक है, क्योंकि अन्ततः इससे भाषा पर नयी सान चढ़ती है। वर्तमान युग-परिवेश में उस द्वन्द्व-धर्मी रचना-प्रवृत्तियों से अप्रभावित न रहते हुए भी अब तक की साहित्यिक परम्पराओं में दीक्षित और भावबोध के स्तर पर सम्पृक्त रचनाकार उस बिखराव को प्रायः साहित्यिक अवमूल्यन की दृष्टि से ही देखता आया है, और परिणामस्वरूप अवचेतन के स्तर पर उससे बचाव की राह ही खोजता रहा है।

यह दृष्ट्य है कि उन साहित्यिक परम्पराओं में दीक्षित होने के कारण ही हिन्दी की साहित्यचेतना के विभिन्न कालों में जब भी कोई नई लहर आई—चाहे वह द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीय चेतना की लहर हो, छायावादकालीन रोमैण्टिक चेतना की लहर या प्रयोगवाद काल में पश्चिमी ज्ञान विज्ञान की लहर—रचनाकारों ने उन परम्पराओं से अपने को नये सिरे से नये-नये रूपों में सम्पृक्त करने की ही चेष्टा की। यह एक तरह से युगीन परिस्थितियों में परम्परा का मूल्यांकन भी था। परम्परा के प्रति जब विद्रोह भी व्यक्त हुआ तब भी उसके अस्तित्व को—और उस अस्तित्व के पीछे उसकी अक्षुण्ण संजीवनी शक्ति को—अस्वीकार नहीं किया गया। अज्ञेय को आलोचकों ने एक समय सबसे अधिक मुखर रूप में परम्परा द्रोही घोषित किया था, पर उनका परम्परा द्रोह भी महज उतना ही था कि वे परम्परा को बोझ स्वरूप 'गठनी' मानने में इन्कार करते थे। (और अपने को स्पष्ट रूप से 'अपरम्परावादी' बताने वाले कुछ लेखकों का न सिर्फ रचना बोध वरन् भाषा प्रयोग भी उन साहित्यिक परम्पराओं से मुक्त नहीं है।)

इलियट की इस उक्ति के परिप्रेक्ष्य में कि परम्परा की जीवंत उपलब्धियों का सर्जनात्मक उपयोग कर सकने के लिए वैयक्तिकता का सजग बोध एक आवश्यक शर्त है, देखें तो उन युग संचित सांस्कृतिक साहित्यिक परम्पराओं का द्विवेदी युग में रचनात्मक उपयोग—विशेषकर भाषा प्रयोग के क्षेत्र में—बहुत आरंभिक स्तर पर था। उस युग के रचनाकारों ने पारम्परिक साहित्यिक उपकरणों को ज्यों का त्यों तो लिया पर उनका उपयोग सीमित अर्थों में ही किया। छायावादियों ने न सिर्फ भाषा में परम्परा से गृहीत छंद अलंकार आदि के उपकरणों में अपनी कल्पनाशीलता से नया निखार पैदा किया, वरन् अपने पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक विपुलता से संस्कृत की रस सिद्ध परम्परा से सीधा सम्पर्क जोड़ते हुए वर्ण-शिल्प, लय, चित्र विम्ब आदि सूक्ष्मतर उपजीव्यों का भी संधान किया। द्विवेदी युग की सारभूत उपलब्धि यह थी कि उसने भाषा को, जबकि वह निर्माणावस्था में ही थी, एक ठोस वस्तुवादी धरातल प्रदान किया। छायावाद ने उस धरातल से खड़े होकर भावात्मक उड़ानें लीं और अपनी रचनात्मक शक्ति को केन्द्र मान कर भाषा के रूप गठन में मानसिक दिवास्वप्नमयता का तत्त्व भरा। छायावादी काव्य मुख्यतः बौद्धिक संवेगों का काव्य था, इसलिए अपने भाषा प्रयोग में वह रचनात्मक अनुभूतियों का सूक्ष्म छायाभास और भाव-कल्पना का चित्रात्मक विस्तार तो ला सका, पर अपने यथार्थ परिवेश से क्रियात्मक सम्पृक्ति न होने के कारण उसमें अनुभूति की आयामयुक्त गहराई नहीं आ पाई। कुछ अजब नहीं कि छायावादी काव्यभाषा क्रियापदों में शून्य अलग अलग चित्र खंडों के समान मनोरम होते हुए भी किसी सक्रिय बोध से जुड़ी नहीं लगती। निराला व्याक्तित्व का पौरुष और काव्य शिल्प का स्फूर्त ओज लिए हुए जरूर आते हैं और अन्य छायावादियों के मुकाबले शुद्ध संवेगों के कवि के निकट भी पहुँचते हैं—और वस्तुतः इस शुद्ध संवेग के कारण ही जहाँ के छायावाद के भाषा संवेदनो को (अपनी गीति प्रधान कविताओं में) वहन करते हुए भी उसके सबसे स्पष्टोत्क विन्दु पर हैं, वहीं दूसरी ओर वे 'नये पते' में प्रयोगवाद की भाषा संवेदना का भी स्पर्श कर सके—पर अपने प्रतिनिधि काव्य-रूप में वे भी सांस्कृतिक साहित्यिक राग मंदर्भों का वैभवशाली ठाठ ही खड़ा करते हैं। इसलिए उनकी काव्य भाषा अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत, क्रिस्टल और सश्लिष्ट होते हुए भी संघटनात्मक दृष्टि से अन्य छायावादियों से भिन्न नहीं है। छायावादी के विशिष्ट भावबोध में चूँकि प्रत्येक अनुभव रचना स्तर पर अतिक्रमित हो जाता था, इसलिए उसकी भाषा मानव अनुभूतियों की वास्तविकता को व्यक्त करने के वजाय उसका 'भ्रम' रचती सी लगती है। भ्रम रचने की इस प्रवृत्ति को उस मानसिक दिवास्वप्नमयता के भी परिपार्व में देखा जा सकता है, जिसमें भाषा ठोस मानव सम्बन्धों को उनकी समसामयिकता में उद्घाटित कर सकने का संदर्भ नहीं रचती, बल्कि मानव सम्बन्धों पर अनुचिन्तनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करती है। इसलिए छायावाद की भाषा ने प्रकृत चित्रों की यथार्थता के अतिरिक्त मानव सम्बन्धों की यथार्थता को रच सकने की संभावना नहीं दी। इसके साथ ही यदि छायावादी भाषा के के उन प्रवृत्तिमूलक तत्वों को, जो परवर्ती कालों की भाषा-संवेदना से संक्रमित हुए, भावबोध के प्रमुख कवियों के साथ प्रतिरूपित करके देखा जाय तो लगेगा कि प्रसाद की भाषा में दिवास्वप्नमयता, पंत की भाषा में चित्रात्मकता, महादेवी की भाषा से लयधर्मिता और निराला की भाषा से सश्लिष्ट उदात्तता के तत्त्व परवर्ती युगों को प्राप्त हुए। उन तत्वों के साथ प्रवृत्ति रूप में छायावादी भाषा ने भविष्य की भाषा रचना के बुनियादी पैटर्न पर काफी दूर तक अपनी छाप अंकित कर दी। यह छाप अवश्य ही भिन्न भावबोध जनित और और छापों के साथ मिल कर कालान्तर में इतने जटिल एवं सश्लिष्ट रूपों में प्रकट हुई कि सहसा उसकी मूल रेखाएँ ढूँढ़ पाने का प्रयत्न आज दुस्साहसिक ही माना जाएगा।

अगता साहित्यिक अभियान मनुष्य और वस्तुजगत् के परस्पर सम्बन्धों की भाषा की खोज के रूप में सामने आया। यह प्रवृत्ति उत्तर छायावाद काल में ही शुरू हो गयी थी; इसीलिए वचन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की भाषा में छायावादी भावबोध का खामा अंश होते हुए भी यथार्थ मानव अनुभूतियों और उसके रचना शिल्प के बीच उतना बड़ा अंतराल नहीं है जितना छायावादी में मिलता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि उत्तर छायावाद छायावाद और प्रयोगवाद के बीच का वह सेतु है जिसके माध्यम से छायावादी काव्य भाषा के विशिष्ट तत्त्व छनकर परवर्ती साहित्य चेतना में संक्रमित हुए तो अत्युक्ति न होगी। इसका एक सफल उदाहरण अज्ञेय की आरंभिक रचनाएँ हैं। और यदि प्रयोगवाद तथा आरंभिक नयी कविता की भाषा में छायावाद से सीधा सम्बन्ध दिखना हो तो शमशेर का नाम लिया जा सकता है। शमशेर में निराला की सश्लिष्ट क्रिस्टल भाषा का रचना संवेग, महादेवी की कोमल लयधर्मिता और पंत का चित्र शिल्प एक साथ मिलता है। छायावादी भाषा संवेदना तत्वों का यह संक्रमण एक अन्य स्थिति ने और भी अनिवार्य बना दिया।

साहित्य संचेतना को अब तक की अद्वन्दात्मक पृष्ठाभूमि में प्रगतिवाद पहली बार द्वन्दात्मक प्रेरणाएँ लेकर आया। यों तो इम. द्वन्द्ववाद की डालक-उत्तरछायावादियों में - विषेपकर वचन में - ही दिखायी पड़ने लगी थी, पर वह ज्यादातर वैयक्तिक वजनाओं तक ही मुख्य हो पायी थी। प्रगतिवाद ने उस द्वन्दात्मकता को विचार प्रत्यय के स्तर पर ग्रहण किया। देखा जाय तो उसकी आवश्यक पृष्ठाभूमि द्विवेदीयुग की वस्तुवादी चेतना द्वारा ही निर्मित हो चुकी थी। प्रगतिवाद ने द्विवेदीकाल के उस व्यवहारिक वस्तुवाद में संकेत लेकर अपना अभियान शुरू किया। पर जिस उग्रता के साथ उसने द्वन्दात्मक वस्तु चेतना को अपने परिवेश पर आरोपित करना चाहा उसमें वस्तुस्थितियों की ठोस जानकारी के अभाव और अब तक की सांस्कृतिक साहित्यिक परम्परा के मूल तत्वों को उचित परिप्रेक्ष्य में पहचान न सकने के कारण एक योद्धा किस्म के रोमैटिक का आवेश ही व्यक्त हो सका। इस आवेश में प्रगतिवाद ने मानव स्थितियों का मरलीकरण किया, और इस प्रकार मानव यथार्थ की वास्तविकता और उसके व्यक्त साहित्य रूप के बीच की दूरी को जिसे कम करने का कमजोर-सा प्रयास उत्तर छायावादियों ने किया था - घटाने के बजाय बढ़ा दी। साहित्य संचेतना की मौलिक प्रेरणा भूमि न होने और प्रत्यय प्रधान आरोपित दृष्टि होने में उसके पास अपनी भाषा की रचना कर सकने के लिए आवश्यक मानव अनुभूतियों की वास्तविकता का सृजन संभव नहीं था, जो कि द्विवेदीयुग की वस्तुवादी चेतना की सीमित परिधि में भी मिला जाता है। छायावाद की अमूर्त एवं श्लथ भाषा प्रगतिवाद की उग्र द्वन्दात्मक चेतना का वेग नहीं सहन कर सकती थी। अतः प्रगतिवाद के उत्तरछायावाद की अपेक्षाकृत ठेठ और सहज भाषा के साथ समझौता किया। अपने स्वप्नों की परिकल्पित सत्यता में आस्थावान प्रगतिवादी लेखक उस समझौते में निहित खतरे को नहीं समझ पाये जो आगे चलकर उनकी शक्ति के विघटन का कारण बना। उत्तर छायावादियों की भाषा जन जीवन के अनुभूत संदर्भों से अपरिचित न होते हुए भी मूलतः रोमैटिक अर्थ छवियों से आच्छन्न भाषा थी। प्रगतिवादियों की भाषा में उत्तराधिकार से प्राप्त रोमैटिक तत्व समयातीत की गूँज लिए लोकगीतों, जन जागरण की फामूलाबद्ध प्रभात फेरियों के सामूहिक संगीत, जन भाषा के मुहावरेदार चलताऊपन और आवेशजन्य नारों के सर्वहारापान में व्यक्त हुए। द्वन्दाश्रित विचार चिन्तन की तेज गति में भाषा संवेदना के ये तत्व प्रगतिवाद के साहित्यिक आन्दोलन में अन्तर्विरोध बन कर प्रकट हुए। इस ऐतिहासिक भूल के कारण युग-संदर्भों से उपजी मानव-अनुभूतियों तथा उसको वहन करने वाली भाषा के बीच जो व्यवधान छायावाद ने अपने कंडीशंड भावबोध द्वारा पैदा कर दिया था, उसे दूर करने और उसे यथार्थोन्मुख वस्तुवाद की ओर प्रेरित करने का प्रथम सक्रिय प्रयास विफल हो गया। एकमात्र प्रेमचन्द ने प्रगतिवादी आन्दोलन की मूल प्रेरक शक्तियों को उनके उचित परिप्रेक्ष्य में पहचान कर और प्रगतिवाद के द्वन्द्ववाद की राष्ट्रीय चेतना की भूमि में प्रतिगन्त कर उन अन्तर्विरोध में पड़ने की भूल नहीं की। उन्होंने अपने वस्तु सत्य की संवेदनात्मक प्रकृति से मेल खाते हुए ही अपनी भाषा की वृत्तियाँ खड़ी की, इसीलिए उनका भाषा प्रयोग (उर्दू की रंगीनी और रवानी के बावजूद) सादा और समरस है, उसमें न तो दूर की कौड़ी लाने वाली कल्पनाशीलता है, न दिवास्वप्नी वृत्तियों का वृत्तवृत्त। पर शायद प्रेमचन्द अपने युग के काफी अग्र थे, इसीलिए साहित्य संचेतना के एक नाजुक दौर में वे प्रगतिवाद की असफलता को सफलता में नहीं बदल पाये। फलस्वरूप प्रगतिवाद के बाद जो निर्वात उत्पन्न हुआ उसमें अगली साहित्य पीढ़ी की सर्जनात्मक चेतना में उत्तरछायावाद के चोर दरवाजे से छायावादी भाषा-तत्वों का वह संक्रमण घटित हुआ जिसकी ओर ऊपर संकेत किया गया।

पर जिस द्वन्दात्मकता को प्रगतिवाद ने उस समय आरोपित करना चाहा था उससे भाषा के पैटर्न में इतना परिवर्तन अवश्य हुआ कि वह छायावादी और बहुत कुछ उत्तरछायावादी अ-क्रियात्मक श्लथ संचरण से मुक्त हो गयी और तेजी से बदलती हुई युग की मानसिक भावभूमि के अनुरूप अधिक तरल, प्रवाहमान और यथार्थ धरातल ढूँढ़ने लगी। इसीलिए आश्चर्य नहीं कि 'राहों के अन्वेषी' भाषा के भी अन्वेषी थे। पर भाषा की यह खोज एक ऐसे शुद्ध और अन्तर्मथित रचना-धरातल से प्रारम्भ हुई थी जिसमें बाहर और बाहर के साक्षात्कार से भीतर की जाग्रत अनेक ज्ञात अज्ञात संवेदन शक्तियों परस्पर टकरा रहीं थीं, और उस स्थिति में प्रगतिवादी 'समझौते' को कोई जगह नहीं थी। इस शताब्दी की चालीसी सजनात्मक संक्रान्ति की ऐसी शृंखला लेकर उपस्थित हुई जिसके प्रभाव को आज का समसामयिक लेखन भी उसी रचना भूमि पर शायद कुछ अधिक तीव्रता के साथ जो रहा सा लगता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि साहित्य संचेतना के स्तर पर इन विभिन्न शक्तियों की कशमकश में भाषा प्रयोग पर से एकदम से वह 'रोक' उठ गयी जो छायावाद के विशिष्ट भाववाद का अभिन्न अंग थी। इसके साथ ही अभी तक पद्य की भाषा और गद्य की भाषा के बीच जो एक कृत्रिम दीवार थी वह टूटने लगी। सम्भवतः इसी का परिणाम है कि गद्य की विधाएँ जो बहुत कुछ अपने अभिप्राय, कथ्य या उद्देश्यगत स्वभाव के कारण सर्जनात्मक प्रेरणा के आन्तरिक एवं सूक्ष्म सौन्दर्य स्पर्श से वंचित रही थीं, इनमें भी काव्य का-सा अपेक्षाकृत अमूर्त भाव-स्तर भरने लगा। प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक आदि के बाद जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय का गद्य पढ़ने पर यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। दूसरी ओर युग की गद्यधर्मा प्रवृत्तियों शक्तियों ने कविता की भाषा संवेदना को कहीं अधिक गहराई से प्रभावित किया। उस 'रोक' के उठ जाने से रचनाकार जहाँ एक ओर मनुष्य को उसकी नितान्त वास्तविकता में देखने की ओर प्रवृत्त हुआ तो वहीं दूसरी ओर सर्जनात्मकता को कोई व्यक्ति निरपेक्ष वस्तुवादी कसौटी न रह जाने से भाषा - विशेषकर काव्य भाषा - संस्कारहीन हो गयी। नकेनवादियों की भाषा इस संस्कारहीनता का अच्छा नमूना प्रस्तुत करती है। उस वक्त सम्भवतः एकमात्र कसौटी व्यक्तिगत निष्ठा की ही हो सकती थी, जिसका एक छोर तो व्यक्तिगत अराजकता के रूप में नकेनवाद की ओर ले जाता है और दूसरा सांस्कृतिक साहित्यिक परम्परा के उन सघन रसमिड रूपों की ओर जो अज्ञेय तथा हजारी

प्रसाद द्विवेदी में मिलता है। तारसप्तक के कवि उस कसौटी के परिप्रेक्ष्य में बँटे हुए दिखायी देते हैं, पर उस वक्त की युग-स्थिति को देखते हुए ऐसा लगता है कि प्रगतिवाद के बाद जो निर्वात उत्पन्न हो गया था उसे रचनाकार अपने-अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा ही भर सकते थे। इस प्रयत्न की अनिवार्यता के कारण ही (जो उस समय एक विवशता की अनिवार्यता थी, स्वतन्त्र वरण की अनिवार्यता नहीं) प्रयोगवाद काल के भाषा-प्रयोग में एक स्नायुविक ऊर्जा का आभास मिलता है, जिसमें एक साथ छायावाद की कल्पनाशीलता (जो युगबोध के यथार्थवादी सीखों में बन्द होने के कारण 'उड़ान' की नर्वस शक्ति उत्पन्न करती थी), उत्तरछायावाद की रोमैटिक विषण्णता (जो प्राचीन मूल्यों के मिथ्या हो जाने से विपर्यय के रंग में रंग उठी थी), प्रगतिवाद की जन-आह्वान शैली की स्फूर्ति और स्वयं प्रयोगवाद की अस्थिर वैयक्तिकता का अन्तर्मुखी दबाव स्पष्ट है। युग-संवेदना का नियमन करने वाली कोई वस्तुपरक कसौटी न होने से भाषा की संस्कारहीनता उस युग के 'मिज़ाज' के अनुरूप तत्कालीन विसंगति-बोध को व्यक्त करने के लिए एक सजीव आईना साबित हुई। इस विसंगति-बोध का सबसे खरा रूप तारसप्तक के कवियों में से केवल प्रभाकर माचवे की कविताओं में मिलता है। रामविलास शर्मा की भाषा संवेदना उस विसंगति-बोध के केवल बाहरी रूपों का स्पर्श करके ही रह जाती है। मुक्तिबोध की भाषा उताल तरंगों पर हिचकोले खाते हुए एक विशाल जहाज का परिचय देती है, और जो स्नायुविक ऊर्जा उस जहाज को चला रही होती है उससे इस बात का निरन्तर खतरा लगा रहता है किसी भी वक्त वह उस जहाज को किसी भयानक चट्टान से ले जाकर भिड़ा देगी। मुक्तिबोध की शक्ति इस बात में है कि वे भाषा की उठान और गिरान के अन्तिम बिन्दु तक उसका अपनी अटूट संवेदना से साथ देते हैं। पर उनकी यह साहसिक यात्रा उनके सैद्धान्तिक आग्रहों के बावजूद मूलतः अन्तःप्रदेश की ही यात्रा है। अतः बाह्य जगत् के समस्त कार्यव्यापारों को उनकी भाषा एक ऐसे विशद बिम्बलोक में परिवर्तित कर देती है जिसकी प्रत्येक वस्तु रचनाकार का मानसिक ऊर्जा में खिंची 'गति' का चित्रलिखित रूप प्रस्तुत करती है। इस स्तर पर मुक्तिबोध की भाषा छायावादी-भाषा-संवेदना की दिवास्वप्नमयता का आभास देने लगती है। अन्तर केवल यह है कि छायावादी लेखक प्रकृति के वाह्याभ्यन्तरिक रूपों में स्वप्न की उड़ान भरा करते थे और मुक्तिबोध अवचेतन के उन रहस्यमंडित अंधगह्वरों के भीतर, जहाँ एक वैभवशाली मानव-संस्कृति के विद्रूपमय ऐतिहासिक खण्डहर पड़े हुए हैं। भाषा को स्मृति के रचनात्मक सन्दर्भों से अनुरजित करने की जो प्रक्रिया छायावाद काल में आरम्भ हुई, जिसमें उत्तर छायावाद ने अवसाद का तत्त्व जोड़ा और प्रयोगवाद-काल में मानव के तीव्रतर आत्मसंघर्ष से उपजी विपर्ययग्रस्त करुणा से जिसमें गहराई उत्पन्न हुई, उसका शृंखलाबद्ध रूप मुक्तिबोध में मिलता है। ये स्मृतियाँ विस्फोटक-द्रव्यों से भरपूर हैं और उन्हें वहन करने वाली भाषा भी एक प्रकार के 'तनाव' से युक्त आचरण करती है, पर यह विस्फोटकता तथा 'तनाव' दोनों ही रचनाकार के व्यक्तित्व से आक्रान्त हैं। उस युग में शायद यह रचनाकार की नियति थी कि जो युग-संवेदना के प्रति जितना ही अधिक सम्पृक्त होता था वह उतना ही अधिक अपने मनोमय लोक - अपने 'वैयक्तिक अह' - की ओर आकर्षित होता था संवेदना के स्तर पर इस युग-स्थिति के संधि बिन्दु पर भावानुभूतियों को रूपान्तरित करने के दो औज़ार रचनाकार के पास सहज ही सुलभ थे - प्रतीक और बिम्ब। मुक्तिबोध बिम्बात्मक प्रतीकों के कवि हैं; जबकि अज्ञेय प्रतीकात्मक बिम्बों के।

युगीन सामाजिक शक्तियों और वैयक्तिकता के आग्रहों के उस संधिबिन्दु पर खड़े होकर भी अज्ञेय की भाषा में स्मृति-संदर्भों का वैसा अतिरेक नहीं मिलता जैसे मुक्तिबोध और प्रभाकर माचवे में, हालाँकि उनकी मानवीय-संस्कृति एवं इतिहास से रागात्मक सम्पृक्ति (महज जानकारी नहीं) कम गहरी नहीं है। मुक्तिबोध अपने 'वैयक्तिक अह' को लेकर बाह्य-जगत् में कूद पड़ते हैं और उस जगत् को ही एक अद्भुत बिम्बलोक में रूपान्तरित कर देते हैं। इसके विपरीत अज्ञेय पहले अपने अनुभूति-तन्त्र से उस बाह्य जगत् को अपने मनोमय लोक में अवतरित करते हैं, फिर अपनी चयनधर्मी कलादृष्टि से उसमें एक ऐसे वस्तु-रूप का अन्वेषण करते हैं जो विशिष्ट सन्दर्भ-जनित अनुभूतियों की तात्कालिकता और तीव्र रागबोध को वहन करते हुए भी व्यापक भावबोध के प्रतीक-स्तर पर अतिक्रमिit हो जाता है। इसीलिए अज्ञेय का भाषा-प्रयोग उनके भावलोक की अन्तरंग हलचल - रचनाप्रक्रिया की अकुलाहट - का पता नहीं चलने देता, एक मर्यादित एवं संश्लिष्ट अनुभव-बंध का परिचय अवश्य देता है। भाषा-प्रयोग का यह मर्यादित आचरण एवं तटस्थता सम्भवतः उस समय की क्षुब्ध साहित्य-संचेतना की माँग थी, इसीलिए अगली साहित्य-पीढ़ी - विशेषकर काव्य - पीढ़ी-के 'मिज़ाज' के लिए अज्ञेय की भाषा आदर्श (अनुकरणीय नहीं) सिद्ध हुई। साहित्यिक चेतना में रोमैटिक तथा यथार्थवादी तत्त्वों के समान दबाव के कारण तत्कालीन भाषा-प्रयोग में एक 'दुलमुलपन' था, पर अज्ञेय की भाषा में वे दोनों तत्त्व परस्पर इतने दूर तक तह-दर-तह अन्तर्मुक्त हो गये कि भाषा-संवेदना के स्तर पर ही यथार्थ और रोमैटिसिज़्म की अलग-अलग पहचान धूमिल पड़ गयी। इससे परवर्ती लेखन में भाषा के प्रति जो दृष्टिकोण धीरे-धीरे विकसित हुआ उससे यथार्थ-संवेदना के बदलाव के साथ-साथ भाषा के सर्जनात्मक संघटन में भी अपेक्षित बदलाव ला सकने की संभावना न्यूनतम हो गयी। यथार्थ और रोमैटिसिज़्म का 'समझौता' प्रगतिवाद काल में भी हुआ था, पर जीवानुभूतियों की वास्तविकता द्वारा समर्थित न होने के कारण उसका खोखलापन शीघ्र ही प्रकट हो गया। परन्तु प्रयोगवाद और उसके बाद की साहित्य-पीढ़ी युग की वास्तविकताओं के प्रति अनुभूति के गहन स्तर पर सम्पृक्त थी, इसलिए इस समन्वय से भावबोध के स्तर पर क्रमिक सम्पन्नता का अनुभव करते हुए भी रचनाकार उसके भाषात्मक खतरे की ओर से आगाह नहीं था। अतः यथार्थ और रोमैटिसिज़्म की स्पष्ट विभेदक चेतना के अभाव का दुष्परिणाम भाषा को इस रूप में उठाना पड़ा कि बदली हुई परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भिन्न संवेदनीयता और सौन्दर्यात्मक

प्रक्रियाओं को इतनी सहजता से 'नया' स्वीकार कर लिया गया कि उस 'नयेपन' के सन्दर्भ में भाषा का नयापन (जो एक मात्र उसकी मूल संघटना से किसी मौलिक परिवर्तन द्वारा ही सम्भव हो सकता था) एक अतर्क्य और बेमानी-सी वस्तु बन गयी। नयी कविता के आरम्भिक वर्षों में और समसामयिक कथा-लेखन में यह स्थिति आज भी मिलती है। इस विरोधाभासमय रचना-स्थिति में, जबकि भाषा मूलतः प्रयोगवादी जीवन-बोध के स्तर पर केवल 'यथास्थिति' का ही निर्देश करती है, जहाँ एक ओर भाषा को जन-जीवन के शब्दों, मुहावरों, संवाद-शैली की नाटकीय भंगिमाओं तथा शब्द के बजाय अर्थ की लयों तक ले जाने की चेष्टा हुई, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक रागबोध की व्यक्ति-निष्ठा ('बाण भट्ट की आत्मकथा'), पौराणिक प्रतीकों ('अंधा युग'), लोक धर्मा गीति-छवियों एवं रचना-प्रवृत्तियों (केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर, ठाकुर प्रसाद सिंह) तथा आँचलिक अनुभव-परम्पराओं के ग्राफिक चित्रों ('मैला आँचल') से भी उसे रजित करने के प्रयत्न किये गये। कह सकते हैं कि भाषा इससे समृद्ध हुई, उसमें भावनाओं की सूक्ष्मतर भंगिमाओं तथा आरोह-अवरोहों को व्यक्त करने की क्षमता पैदा हुई। पर देखें तो अब तक के चले आते भाषा-प्रयोग की इस क्षितिज धारा में अनुभव की नयी-नयी ज़मीन कट कर गहराई तो अवश्य आई, पर वही कालान्तर में रोमैटिसिज़्म के मोह से मुक्त समसामयिक युगबोध की प्रखर यथार्थ-चेतना की आंच में सूख कर एक 'दलदल' में परिणत हो गयी।

यथार्थ और रोमैटिसिज़्म का समन्वय कला के स्तर पर वस्तुतः एक उदात्त मानववादी दृष्टिकोण में ही फलीभूत हो सकता था। औद्योगिकता के प्रसार तथा महानगरीय मूल्य विपर्यय के दुर्निवार चक्र में पड़ कर यथार्थ और रोमैटिसिज़्म का वह नाजुक सन्तुलन पूरी तरह बिखर गया। सन् पचास के बाद जिस साहित्य-पीढ़ी ने केन्द्र स्थान ग्रहण किया उसकी चेतना में एक ओर तो उस बिखराव का मलबा था और दूसरी ओर औद्योगिक एवं प्राविधिक तन्त्र-मूल्यों के बढ़ते प्रभाव से विस्थापित मानव व्यक्तित्व का तीव्र बोध, जिसके फलस्वरूप न सिर्फ उसके रचना-व्यक्तित्व में अन्तर्ध्वनित होने वाला 'संगीत' महानगरों के 'शोर' में डूब गया, वरन् छन्द, लय, पौराणिक प्रतीक आदि जिन साहित्यिक उपकरणों से पहले कभी उसने परम्परा से अपने को जोड़ने की चेष्टा की थी, उनका काम भी महज़ आधुनिक मनुष्य के विद्रूप-भाव एवं विस्थापित भाव-चेतना की क्रूर करुणा को उभारना रह गया। मदन वात्स्यायन और लक्ष्मीकान्त वर्मा के भाषा-प्रयोग इस स्थिति को स्पष्टता से सामने रखते हैं। यह विस्थापित भाव-चेतना कुँवर नारायण जैसे बौद्धिक रागबोध के कवियों में रचना-प्रक्रिया की विभक्त संवेदनीयता में परिलक्षित होती है, जिसमें विचार और अनुभूति की टकराहट में भाषा एक दर्प भाव का आभास देने लगती है। केन्द्रच्युत भाषा-संवेदना के इस दौर में विदेशी भाषाओं, विशेष कर अंग्रेज़ी के शब्द (और वाक्य-विन्यास तक) धड़ल्ले से लिए गये और इसे भाषा का संवेदन-क्षेत्र विस्तृत होने का प्रमाण माना गया। अन्य-अन्य कलाओं और विज्ञान के अर्थ-संकेत ले लेकर भाषा को 'समृद्ध' करने का अभियान भी चला। भाषागत इस सारी अव्यवस्था के भीतर भाषा-संवेदना का एक नया आधार, एक नया समवाय तलाश कर पाने की चेष्टा अवश्य दिखाई देती है, परन्तु जिन स्तरों से ये सारी प्रवृत्तियाँ परिचालित हो रही हैं उनमें सही दिशा-क्रम का अभाव दिखाई देता है। यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि पश्चिम की द्वन्द्वमूलक ज्ञान-बोधात्मक परम्पराओं के प्रति आज के रचनाकार की प्रतिक्रिया पूर्ववर्ती रचनाकार की तरह ऊपरी अथवा अपरिपक्व आकर्षण या विकर्षण की नहीं रह गयी है, वरन् वर्तमान युग परिस्थितियों से 'खुराक' पाने वाले इस द्वन्द्ववाद से उसकी आन्तरिक सम्पृक्ति है। इसीलिए भाषागत अराजकता के पीछे सच्ची छटपटाहट है। पर रचना-संवेदना के स्तर पर अनुभूत होने वाला वह द्वन्द्ववाद किसी सक्रिय भावबोध में परिणत होने के बजाय एक प्रभाव में बदला जा रहा है (काव्य में बिम्ब के प्रयोग का व्यापक प्रवृत्ति और गद्य की विधाओं में रूढ़िफार्म विरोधी तरल रचना-रूपों [संस्मरण, डायरी, यात्रा और कभी सब कुछ का मिला-जुला रूप, जैसे 'हरी घाटी' में मिलता है] की ओर रुझान का यही कारण है)। इसीलिए आज के अधिकांश रचनाकारों की भाषा 'वातावरण' के अति संवेदनशील ग्राफ़ पर ठहरी हुई है। मुझे यह आधुनिक युग-चेतना की सबसे अधिक विडम्बनामय स्थिति लगती है जिसमें आज की रचनाकार भाषा की सीमा के प्रति जितना ही सचेत है, अनजाने में वह उसके परम्परित संघटना-रूप को उतना ही नये-नये रूप-रंगों में आगे बढ़ाता जा रहा है। यह सही है कि भाषा अपने विकास-क्रम के वर्तमान पूर्णता बिन्दु पर रचनाकार के हाथ का खिलौना नहीं रह गयी है जैसा कि पहले थी, न ही वह रचनाकार के व्यक्तित्व से अब उस हद तक आक्रान्त ही है। वह मूर्त अर्थ से अमूर्त अर्थ और शब्द से शब्दहीनता के स्तर तक बढ़ी है। पर उस अमूर्त शब्द - आयाम - उस शब्दहीनता - के प्रति तीव्र रूप से संवेदित होते हुए भी, अपवाद स्वरूप कुछ लोगों को छोड़ दिया जाय तो, अधिकांश रचनाकार नये अर्थ-सम्प्रेषण के लिए आवश्यक अपने बोधयन्त्र की वह निर्वैयक्तिकता नहीं प्राप्त कर पाये हैं जो शब्दहीनता की स्थिति को एक शक्तिशाली संभावना से भर दे। उस शब्दहीनता में वे हृद से हृद वर्तमान यथार्थ-अनुभूतियों की बेचैन स्मृतियाँ तथा उनकी दूरगामी अनुगूँजें ही भर सके हैं, जो चूँकि याद करने से बार-बार छूट जाती हैं इसलिए अर्थबोध के एक नये स्तर की ओर संकेत करता है। निर्मल वर्मा की कहानियाँ भाषा के इस सीमित संभावना-स्तर का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

भाषा के सन्दर्भ में 'शब्दहीनता' - शब्दों के प्रचलित अर्थ-क्रम की व्यर्थता - का अहसास जिन रचनाकारों में केवल भावनात्मक अनुद्वेग ही नहीं जगाता उनके लिए शब्दहीनता की स्थिति स्वचेतनता के सन्दर्भ में ही कुछ मूल्य रखती है; अतः इस आधार पर उनकी पहली कोशिश अपने बोधयन्त्र को उन साहित्यिक परम्पराओं से मुक्त करने की होती है जो अब तक के भाषा-प्रयोग के रवैये को परिपुष्ट करती आई हैं और परिणामस्वरूप शब्दहीनता की स्थिति की खुद ज़िम्मेदार रही हैं। इस कोशिश में ही वास्तव

में पश्चिमी ज्ञान-बोधोत्पन्न परम्पराओं का एकमात्र विवेकपूर्ण उपयोग हो सकता है। वैसा करना एक तरह से पश्चिम से अपनाये गये विज्ञान और प्रजातन्त्र को विचार दृष्टियों को काय रूप में परिणत होगा जिन्हें अभी तक हम सिद्धान्तवत् ही ग्रहण करते रहे हैं। पूर्व-परम्पराओं से अब तक के हमारे मोह-सम्बन्ध से मुक्ति और बोध-यंत्र में नवीन परिस्थितियों को माँग के अनुरूप नया धार पैदा करना वस्तुतः विज्ञान और प्रजातन्त्र को आधारभूत प्रतिज्ञाओं और चिन्तन-पद्धतियों को सर्जनात्मक परिणतियों हैं जिन्हें स्वीकार किये बिना नवीन अर्थ-क्षमता से पूरित अनुभूति और उसे अंकुरित करने वाली भाषा के बोध का अन्तर बना रहेगा और नया अर्थ-स्तर निमित्त कर सकने की सारी छटपटाहट केवल प्रभाववादी कल्पना में वृद्ध-वृद्ध चूती रहेगी।

आज किसी भी साधक रचना को समझ के लिए किसी कला-प्रणाली में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं रह गयी है - इस आवश्यकता की अनिवार्यता ही पहले रचनाकार और भावक के बोध व्यवधान का कारण रही है। आज रचना एक ऐसा संस्थित है जहाँ दो दृष्टियाँ एक साथ मिल कर किसी नये सृजनात्मक अर्थ-आयाम का संधान करती हैं, और उस संधान का क्षेत्र वह मानव-सम्बन्ध है जो विज्ञान तथा प्रजातन्त्र को शक्तियों की बुनियाद पर एक अपेक्षाकृत अधिक ठोस यथार्थ और सक्रिय धरातल पर व्यक्ति के प्रत्येक विवेकपूर्ण निर्णय के साथ प्रतिबद्ध है। इस मानव-सम्बन्ध की सजग चेतना में परिस्थितियों के प्रति अधिक से अधिक जिम्मेदार लेने का भाव और उसके लिए तैयारी निहित है; अतः वह क्रियात्मक होने के साथ-साथ अधिक नैतिक भी है। इस दृष्टि से देखें तो लगेगा कि आज 'नया' होने का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि आपका बोधयंत्र विशिष्ट और काल-परोक्षित कलाभिरुचियों में जितन निष्णात है, आप किस सीमा तक अपने को विभोर होने दे सकते हैं; वरन् यह कि आपका बोधयंत्र बौद्धिक रूप से कितना सक्रिय है, क्योंकि अंततः उसी से आप उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से अपने परिवेश की गत्यात्मक सौन्दर्यात्मक सम्भावनाओं से सम्पृक्त होते हैं; कि आपके मस्तिष्क-तंतुओं में कितनी झनझनाहट है क्योंकि उसके होने से ही वह तटस्थता, अनुभूति-सत्य के प्रति वह निमग्न भाव-स्तर बन सकता है जो भाषा के व्यक्त रूप में भावक पर आतंक बन कर नहीं छाता या उसे मोहाविष्ट एवं अभिभूत करता। भाषा के उस गत्यात्मक प्रयोग में रचनाकार भावक की बौद्धिक कला-संवेदनाओं को साहित्यिक कलाकार अभिरुचि के मानदण्डों के सहारे नहीं जाग्रत करता, वरन् उसे मानव-सम्बन्धों के भीतर ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जहाँ किसी-भी संभावित वस्तु-मम का अस्तित्व हमेशा साहचर्य और सह-अनुभूति पर आधारित होता है। इस संभावित वस्तु-मम का बोध ही भावक को (और रचनाकार को भी) 'चकित' कर सकता है अन्य माध्यमों से जिस वस्तु-मम तक पहुँचा जाता है। यह 'चकित' कर सकने की क्षमता ही सच्चे मनो में भाषा को सर्जनात्मक और नया बनाती है।

ऊपर जो विचार अब तक किया गया उससे ऐसा लग सकता है कि आज के लेखक में 'सर्जनात्मक भाषा' का स्तर निमित्त नहीं हो पाया है और मेरा तत्सम्बन्धी विवेचन कोरी परिकल्पना पर आधारित है। इस आशंका की ओर से मैं शुरू से ही सचेष्ट रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि कलात्मक सचाई अपने रचना-तत्वों के माध्यम से ही अपने को उपलब्ध कर सकती है, पर मैं यह नहीं मानता कि विचार-चिन्तन को परिधि रचना-तत्वों की परिधि से एकदम बाहर की वस्तु है, या परस्पर वे एक दूसरे के अस्तित्व का खण्डन करते हैं, या खण्डन करके ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। कुँवर नारायण का कहना है कि 'कवि अनिवार्यतः नहीं आवश्यकतः विचारक होता है।' इसमें निर्णय का जो विकल्प ध्वनित है उसे कलाकार की वरण की स्वतन्त्रता मानकर तरजोह दी जा सकती है, पर उस स्थिति को क्या कहेंगे जिसमें रचनाकार भाषा के उस नये सर्जनात्मक स्तर तक पहुँच कर भी उसके प्रति कोई सजग दृष्टिकोण नहीं बना पाया है? शब्दहीनता' की इस छटपटाहट के भीतर नयी भाषा-रचना की ओर बढ़ने के संकेत इधर की प्रकाशित कतिपय रचनाओं से मिलते हैं : निमल वर्मा (लन्दन की एक रात), कैदारनाथ सिंह ('सम्प्रति' में प्रकाशित कुछ कविताएँ), अजित कुमार, कृष्ण बलदेव ब्रैद (उसका वचन), लक्ष्मीकांत वर्मा (नयी-कविता-7' में प्रकाशित कविता-'मि. उप्रेती'), श्रीकान्त वर्मा ('ज्ञानोदय' में प्रकाशित कहानी-'कैद') जैसे लेखक अपनी भिन्न रचना-संवेदना के वावजूद भाषा-सम्बन्धी उन संकेतों को उदाहृत करते हैं। पर इसके साथ ही यह भी लगता है कि इन लेखकों की भाषागत खोज प्रायः प्रतिभा ज्ञान पर ही आधारित है किसी सक्रिय चेतना बिन्दु पर नहीं। इसलिए ये छिट-पुट संभावना-संकेत एक सशक्त दिशा-संकेत नहीं बन पाये हैं।

भाषा-रचना के सन्दर्भ में स्वचेतनता का एक पक्ष और है : शब्दों से अधिकतम अर्थ निचोड़ लेने और भाषा के अवयवों तथा उनसे परस्पर संभावित आचरण के प्रति इस हद तक सजग हो जाने कि रचना द्वारा प्रक्षेपित अर्थ पर रचनाकार-व्यक्तित्व का चौकनापन छा जाय। रघुवीर सहाय की इधर की प्रकाशित कुछ रचनाओं में यह स्थिति साफ दिखाई देती है। अज्ञेय के 'एक वृद्ध सहसा उछली' और 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में भी यही चौकनापन झलकता है। विपिन कुमार अग्रवाल इस अतिशय सतर्कता की स्थिति को प्रयोगशीलता-के धरातल पर अपने बोधयंत्र को प्रखर करने के एक तरीके के रूप में ग्रहण करते हैं, पर उस बोधयंत्र द्वारा वे क्या व्यक्त करना चाहते हैं - उनके रचनात्मक उन्मेषों की ठोस आधारभूमि क्या और कहाँ है - इसका स्पष्ट आभास नहीं मिलता। सम्भवतः इसका कारण उनके बोधयंत्र की अत्यन्त तीव्र गति और सक्रियता है, जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा-संश्लिष्ट जीवन-अनुभूतियों की रचनाधर्मी द्वन्द्वात्मकता के बजाय प्रत्यय-आश्रित द्वन्द्वात्मकता (जिसे आरतेगा इ गासे ने 'Physio-mathematical reasoning' कहा है) को ही रेखांकित करती-सी लगती है।

पर स्वचेतन भाषा-प्रयोग में इस प्रकार का जोखिम सदैव निहित होता ही है; वस्तुतः इस जोखिम के परिप्रेक्ष्य में ही कलाकार अपनी क्षमताओं की परख कर सकता है। भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में परिचित एवं सम्पन्न अर्थ-दिशाओं की तरफ फूँक-फूँक कर कदम रखने की परिमार्जित कला अभिरुचि की अपेक्षा वस्तु-सत्यों के सीधे साक्षात्कार में भाषा का किसी कथाकृति के उन 'गत्यात्मक चरित्रों' की तरह आचरण करना कही बेहतर है कि रचनाकार की पकड़ से छूट कर एक अपना बिल्कुल ही नया अर्थ-लोक रच लेते हैं।

(कविता से साक्षात्कार से)